पुस्तक समीक्षा

'माओवाद' पर दो पुस्तकें

वर्ष **2010** में 'माओवाद' के नाम पर दो पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित की गईं। दोनों ही पुस्तकों में विभिन्न निबंधों का संग्रह है।

पहली पुस्तक का शीर्षक 'माओवाद क्या है और अन्य निबन्ध' (What is Maoism and other Essays, Editor and introduced by Bernard' D'mello) हैं। यह जनवरी, **2010** में 'कॉरनर स्टोन पब्लिकेशन' (खड़गपुर, प. बंगाल) से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रसिद्व साप्ताहिक पत्रिका 'इकॉनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली' (ईपीडब्ल्यू) के उपसम्पादक बर्नाड डी' मेलो ने किया है। इस पुस्तक का शीर्षक निबन्ध इसके पहले 'मंथली रिव्यू' और इपीडब्ल्यू में छप चुका है। असल में, यह पुस्तक (यूनीफाइड कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (माओइस्ट) के नेता बाबूराम भट्टराई के एक साक्षात्कार के अलावा) 'मंथली रिव्यू' में पूर्व में छपे लेखों का ही संग्रह है।

दूसरी पुस्तक का शीर्षक 'माओवाद एक आलोचना वाम से' (Maoism a Critique From the left) है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रसेनजित बोस ने किया है जो भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की रिसर्च यूनिट के कन्वेनर हैं। इस पुस्तक के सभी लेखकगण माकपा से जुड़े हुए हैं। यह पुस्तक माकपा के महासचिव प्रकाश करात के 'प्रोत्साहन' और 'मार्गदर्शन' में लिखी गयी है। यह पुस्तक मई, **2010** में 'लेफ्रट वर्ड' द्वारा प्रकाशित की गयी है।

इन दोनों पुस्तकों की विषयवस्तु पर हम यहां क्रमशः चर्चा करेंगे। दोनों ही पुस्तकों के शीर्षक समसामयिक विषय 'माओवाद' से जुड़े होने के कारण अपनी ओर ध्यान खींचते हैं।

I 'माओवाद' के नाम पर वैचारिक विभ्रम पैफलाने का प्रयास

'माओवाद क्या है ... ... ' में एक इंटरव्यू के अलावा **15** निबन्ध हैं। पुस्तक को सम्पादक ने **6** भागों में बांटा हुआ है। ये भाग इस प्रकार हैं!

(I) मार्क्स से माओ (From Marx to Mao) (II) मार्क्सवाद : इसका क्रांतिकारी सार (Marxism and its Revolutionary Essence) (III) लेनिनवाद और इसका स्टालिनवादी विघटन (Leninism and its Stalinist Decomposition) (IV) यह सब कहां से शुरू हुआ : चीन में माओवाद (Where it All began: Maoism in China) (V) भारत और नेपाल में माओवाद (Maoism in India and Nepal) (VI) रेडिकल डेमोक्रेसी के वायदे (The Promise of Radical Democracy)

प्रत्येक भाग में मंथली रिव्यू (पहले भाग को छोड़कर जिसमें पुस्तक का शीर्षक लेख 'माओवाद क्या है?') के वे विभिन्न लेख हैं जो कि उस भाग के शीर्षक से मिलते–जुलते हैं।

इन लेखों के लेखक मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओ विचारधारा/माओवाद को मानने वालों से लेकर ऐसे भी हैं जो स्टालिन के घोर विरोधी और त्रात्स्की के प्रति विशेष सम्मान रखते हैं। स्टालिन की घोर आलोचना करने वाले परन्तु माओ की प्रशंसा करने वाले लेखक भी इसमें शामिल हैं। ये लेखक स्टालिन की आलोचना माओ के तरीके अथवा दृष्टिकोण से करने के स्थान पर त्रात्सकी अथवा बुर्जुआ सिद्वान्तकारों का दृष्टिकोण व तरीका अपना लेते हैं। खैर इस विषय पर आगे चर्चा की जायेगी।

सम्पादक का 'मंथली रिव्यू' पत्रिका के प्रति अगाध लगाव है। और वे इस पुस्तक की शुरुआत में इस पत्रिका के दीर्घ जीवन की कामना करते हैं और अपने माता–पिता को इसलिए याद करते हैं कि उन्होंने कष्ट उठाकर डी' मेलो के लालन–पालन का ख्याल रखा। डी' मेलो यहां उस परिपाटी का या कह लीजिये एक तरह की औपचारिकता का पालन कर रहे हैं जिसमें लेखक अपनी पुस्तक को किसी को खास तौर पर समर्पित करते हैं। असल में, इस बात का उल्लेख इस समीक्षा में इसलिए करना पड़ रहा है ताकि पाठक इस बात से परिचित हो सके कि एक घोर विचारधारात्मक–राजनीतिक विषय को नितान्त व्यक्तिगत हवाले देने से वह कैसे विकृत और हल्का होने लगता है। और पहले पृष्ठ से ही इसकी शुरुआत हो जाती है।

सैद्वान्तिक प्रश्नों को समझने की किसी व्यक्ति की यात्रा का वर्णन कई प्रकार के भ्रमों को जन्म देने का माध्यम भी बन सकता है। और यह चीज उस समय और खतरनाक हो जाती है जब विचारधारात्मक भ्रम पैफले हुए हों। और इस पुस्तक का शीर्षक ऐसा है जो किसी जिज्ञासु पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित करता है और फिर उसका परिचय 'माओवाद' से न होकर 'माओवाद' के बारे में डी'मेलो साहब की एक विशिष्ट समझ या बोध से होता है जिसका कई मामलों में माओ के विचारों से गहरा विरोध है। 'माओवाद' के बारे में सम्पादक की पहुंच अकादमिक है। वे जिस ढंग से 'माओवाद' को पेश करते हैं उसका अर्थ यह है कि मार्क्सवाद के विभिन्न स्कूल (या घराने) हैं और वे कैसे 'स्व शिक्षा' (Self education) से इस या उस स्कूल तक पहुंचे। भारतीय शास्त्रीय संगीत के विभिन्न घरानों की तरह ही उनके ये स्कूल हैं।

डी' मेलो अपने द्वारा लिखी गई इस किताब की प्रस्तावना 'ाम दी इन्टेलैक्चुएल ''अंडर वर्ल्ड'': एन इन्ट्रोडक्शन' (From the intellectual "Under world": An introduction) में इस संकलन में प्रस्तुत किये गये प्रत्येक भाग के लेखों का एक परिचय देते हैं और कुछ टिप्पणियां करते चलते हैं। इस प्रस्तावना में डी' मेलो अपने मार्क्सवाद को समझने की यात्रा का वर्णन करने के साथ उन 'मार्क्सवादी', 'मार्क्सवादी–लेनिनवादी', आदि आदि के साथ उन 'माओवादियों' के नामों की चर्चा करते हैं जिनसे उन्होंने 'माओवाद' समझा। इस तरह से डी'मेलो के बोध वाला 'माओवाद' एक शक्ल अख्तियार करता है और अपनी समझ को स्पष्ट करने के दौरान वे अपने तरीके व्यक्तिगत को राजनीति से मिलाने (Combinning the personal with political) को सही ठहराते हैं।

डी'मेलो का अपना लेख और इस संकलन में संकलित किये गये निबन्ध 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा भानुमती ने कुनबा जोड़ा' का बहुत सुन्दर उदाहरण है। वे किसी वैचारिक अनुशासन का परिचय इस शैली के कारण नहीं दे सकते हैं। यह अपने आप में उस 'स्कूल' की भी विशेषता है जिसके दीर्घजीवन की वे कामना करते हैं।

'मंथली रिव्यू' जो कि 'एक स्वतंत्र समाजवादी पत्रिका' है समाजवाद के प्रचार के नाम पर अच्छा–खासा वैचारिक विभ्रम अपने जन्म से आज तक फैलाती रही है। यह पत्रिका कभी चीन के समाजवाद की प्रशंसा करती है, कभी क्यूबा के तो कभी वेनेजुएला के '**21**वीं सदी के समाजवाद' की। यानी माओ भी सही, फिदेल कास्त्रों भी सही और ह्यूगो शावेज भी सही। हां! इस पत्रिका की निगाह में अगर कोई ऐसा व्यक्ति चुना जाये जो सर्वथा गलत है तो वह हैं स्टालिन। जाहिर सी बात है जब 'स्कूल' ही स्टालिन के प्रति घोर अवमानना का रुख रखता हो तो उसके शिष्य भला ऐसा क्यों न करें। आगे हम चर्चा करेंगे कि इस पुस्तक में यदि किसी व्यक्ति को सबसे ज्यादा लानत भेजी गयी है तो वह स्टालिन हैं। और ऐसे में डी' मेलो साहब! को किसी अंडरग्राउण्ड/ओवरग्राउण्ड माओवादी ने लगता है ठीक से 'शिक्षा' नहीं दी कि माओ विचारधारा या 'माओवाद' को मानने का अर्थ है स्टालिन को अपने महान शिक्षक के रूप में स्वीकारा जाय। उन्हें न मानने का अर्थ मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और माओ को भी नहीं मानना होता है। खैर! इस विषय में तभी चर्चा की जाय। हम डी' मेलो के द्वारा प्रस्तुत की गयी योजना के साथ–साथ आगे बढ़ेंगे।

(यहां यह सवाल उठ सकता है कि क्या 'मंथली रिव्यू' को पढ़ा जाना चाहिये। हमारा जवाब होगा अवश्य! परन्तु वैसे ही जैसे हम दैनिक अखबार या मासिक पत्रिका पढ़ते हैं। यहां यह भी गौर तलब है कि 'मंथली रिव्यू' पत्रिका अमेरिका में तब प्रकाशित होनी शुरू हई थी जब वहां 'मैकार्थी युग' था और उस समय कम्युनिस्टों का बेरहमी से दमन किया गया था। अमेरिकी शासक वर्ग द्वारा घोर कम्युनिस्ट दमन के समय इस पत्रिका को निकलने देना इस पत्रिका के चरित्र को उद्घाटित करता है।)

डी' मेलो साहब की एक और खासियत है। इनके द्वारा लिखे निबन्ध और 'प्रस्तावना' और शायद यही इनके चयन के पीछे की भी सोच हो कि वे सदा जनवाद (डेमोक्रेसी) का सवाल उठाते हैं और उसके संदर्भ से ही अपनी सारी धारणायें प्रस्तुत करते हैं। लगता है जनवाद कोई पवित्र और कालजयी वस्तु है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'प्रस्तावना' (page-17) के अंतिम पैरे में वे पहले कम्युनिस्ट घोषणापत्र के पहले अध्याय की पहली लाइन (आज तक अस्तित्वमान समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है) और फिर फायरबाख पर मार्क्स के निबन्ध के ग्यारहवे बिन्दु (दार्शनिकों ने विभिन्न विधियों से केवल ***व्याख्या ही की*** है, लेकिन प्रश्न विश्व को ***बदलने*** का है) का हवाला देने के बाद कहते हैं कि इस बात को भी याद रखा जाना चाहिए कि जो जनवादी नहीं है वह समाजवादी भी नहीं हो सकता है **(" ... ... and continually recall that which is not democratic *cannot* be socialist")**। मतलब यह है कि संदर्भ से काट कर प्रस्तुत की गयी इस उक्ति का महत्व मार्क्सवाद के बुनियादी दो बिन्दुओं कि 'मनुष्य जाति का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है, और 'मार्क्सवादी दर्शन दुनिया को बदलने का दर्शन' है के बराबर है। डी' मेलो का जनवाद वाला यह संदर्भ बिंदु उन पर इस कदर हावी है कि वे मार्क्स, लेनिन व माओ को भी इसी आधार पर उपमाओं से अलंकृत करते हैं उनके अनुसार मार्क्स 'रेडिकल डेमोक्रेट' (radical democrat), लेनिन 'आद्योपांत जनवादी' (Throughgoing democrat) और माओ 'क्रांतिकारी जनवादी' (revolutionry democrat) हैं। देश–दुनिया मार्क्स, लेनिन, माओ को नाहक कम्युनिस्ट समझती रही है वे तो भिन्न–भिन्न किस्म के जनवादी भर थे। डी' मेलो का यह डेमोक्रेसी की अवधारणा या राग ऐसे ही नहीं है असल में इसी के द्वारा स्टालिन को तानाशाह भी घोषित किया जाना है। और साथ ही यह भी दिखलाता है कि 'स्वशिक्षा' कितनी खतरनाक हो सकती है।

अब हम इस पुस्तक की योजनानुसार ही चर्चा करें।

इस पुस्तक के पहले भाग का नाम 'मार्क्स से माओ' (From marx to Mao) है। इस भाग मे एक ही निबन्ध है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि यही इस किताब का भी शीर्षक है। 'माओवाद क्या है?' (What is Maoism) नामक लेख किताब के सम्पादक ने स्वयं लिखा है।

इस लेख के कुछ पहलुओं की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं। लेख लेखक की खास शैली (व्यक्तिगत को राजनीति से मिलाने) से शुरु होता है। दूसरे पृष्ठ में लेखक अपने लेख की योजना प्रस्तुत करते हैं। जिसमें वे माओवाद की व्याख्या करने से पहले अपने सामने यह कार्यभार रखते हैं कि वे पहले इन प्रश्नों का जवाब दें। ये प्रश्न हैं: मार्क्सवाद क्या है? लेनिनवाद क्या है? स्तालिनवाद क्या है? फिर वे, माओवाद की एक किस्म की परिभाषा देने के बाद इन सवालों को अपने लेख के उपशीर्षकों में तब्दील करके अपने लेख को आगे बढ़ाते हैं।

उनके अनुसार माओवाद,

> ''सिद्वान्त और व्यवहार में, माओ का मार्क्सवाद स्टालिन की मार्क्स के इतिहास के सिद्वान्त की यांत्रिक व्याख्या से उभरने और उससे आगे जाने से समृद्व होता है। और माओ ने मार्क्स से ''भौतिकवादी द्वन्द्ववाद'' में अनेकानेक अंतर्विरोधों को–जो कार्यकारी रूप से एकताबद्व हैं लेकिन उनके आंतरिक टकराव अलग करने की ओर ले जाते हैं– विरोधी प्रवृत्तियों के परस्पर विरोधी कार्यवाहियों के कारण इसका सम्भावित परिणाम के साथ समझने और हल करने में हमेशा लागू किया। यह इस सब का मौलिक मार्क्सवाद और लेनिनवाद के साथ सम्मिलन है जो माओवाद बनता है।'' (**Page-22-23,**अनुवाद हमारा)

इसके बाद ही डी' मेलो मार्क्सवाद क्या है? नामक उपशीर्षक में बताते हैं कि वे खुद अपनी ओर से परिभाषा रखने के बजाय जो उन्हें मंथली रिव्यू ने सिखाया है उसे रख देते हैं। वे मंथली रिव्यू के संस्थापक सम्पादक पाल एम स्वीजी को उद्धृत करते हैं। स्वीजी की यही परिभाषा इस किताब के भाग दो में उनके एक लेख 'मार्क्सवाद क्या है?' में और विस्तार पूर्वक दी गयी है। स्वीजी के अनुसार,

> ''मार्क्सवाद सर्वोपरि एक समग्र विश्व दृष्टिकोण है जिसे जर्मन वेल्टानसचाऊंग **(Weltanschauung)** कहते हैं जिसमें दार्शनिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक सिद्वान्त सभी आपस में अन्तरसंबन्धित और मिलकर एक स्वतंत्र और विशाल रूप आत्मनिर्भर बौद्विक संरचना का एक ढांचा तैयार करते हैं ... ... यह जीवन और सामाजिक व्यवहार का पथ प्रदर्शक है और दीर्घकाल में इसकी वैधता को केवल इसके परिणाम से परखा जा सकता है।'' (पेज–**23,** पैरा.**3** अनुवाद हमारा)

इस परिभाषा को जब तक गौर से नहीं पढ़ा जायेगा तब तक हो सकता है कि ठीक लगे। परन्तु जैसे ही आप इस पर गौर करने लगते हैं तो आप पाते हैं कि इस परिभाषा में कोई भारी गड़बड़ी है। आकारपरक दृष्टिकोण इस परिभाषा को मार्क्सवाद की एक ठीक व सटीक परिभाषा के रूप में ले सकता है परन्तु कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र के पहले अध्याय की पहली लाइन को याद रखने वाला जान जायेगा कि इस परिभाषा में 'वर्ग' गायब है। मार्क्सवाद एक समग्र विश्व दृष्टिकोण है ठीक है परन्तु किसका विश्व दृष्टिकोण है? यह जीवन और सामाजिक व्यवहार का पथ प्रदर्शक है चलो ठीक है परन्तु किसके जीवन और सामाजिक व्यवहार का पथ प्रदर्शक है? ये सवाल उठाते ही स्पष्ट हो जाता है कि पाल स्वीजी और आगे चल कर उनके शिष्य इस परिभाषा में एक शब्द विशेषकर जोड़ना भूल गये हैं। यह शब्द हे सर्वहारा वर्ग। मार्क्सवाद सर्वोपरि सर्वहारा वर्ग का विश्व दृष्टिकोण है। यह सर्वहारा वर्ग का दर्शन है। अन्य वर्गों–तबकों के अपने–अपने दर्शन और दृष्टिकोण हो सकते हैं और होते रहे हैं परन्तु उनमें से कई में पाल स्वीजी की परिभाषा सटीक बैठ सकती है और उनमें से कई यह भी दावा कर सकते हैं कि यह जीवन और सामाजिक व्यवहार का पथ प्रदर्शक है। और इस परिभाषा में जो कसौटी वैधता के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गयी है यह तो एकदम ही बेकार है। इस तरह की बातों के आधार पर मार्क्सवाद को बिल्कुल भी नहीं समझा जा सकता है।

हमारा यह स्पष्ट तौर पर कहना है कि मार्क्सवाद को जिस किसी भी साथी को समझना और सीखना है उन्हें सबसे पहले सर्वहारा वर्ग का पक्ष चुनना चाहिए और सर्वहारा वर्ग की सेवा करने के संकल्प के साथ मार्क्सवाद को इधर–उधर से पढ़ने सीखने के स्थान पर सीधे मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन व माओ के ग्रंथों से सीखना चाहिए। वर्ग संघर्ष की आंच को दूर से सेंकने वाले लोग कभी भी नहीं समझ

सकते हैं कि इस आंच की पैदाइश कैसे होती है और यह आंच अपने को बनाये रखने और तीव्र और तीव्रतर होने के लिए जिन चीजों की मांग करती है उनके निर्माण और उस प्रक्रिया में पूरी तरह से अपने को झोंके बिना मार्क्सवाद को नहीं समझा जा सकता है। इस सबसे अलग जो कुछ भी है वह मार्क्सवाद का दूर दर्शन है। यह अकारण नहीं है कि डि'मेलो का 'माओवाद क्या है?' की व्याख्या वाला लेख बिलकुल भी प्रभावित नहीं करता है। लगातार 'स्वशिक्षा' 'स्वस्पष्टीकरण' **(self-clarifying exercise)** का प्रलाप इसको पठनीय बनाने के स्थान पर उबाऊ बनाने लगता है। ऊपर से तुर्रा यह कि जिस तरह से उन्होंने मार्क्सवाद का आत्मज्ञान हासिल किया है उसको बताकर वे कईयों की मदद करने का दिवा स्वप्न देखते हैं। यहां हमने उनके मार्क्सवाद की व्याख्या के दौरान की कई आम बातों पर चर्चा नहीं की है वह मात्र इसलिए कि उनमें से कई बातों का जवाब पहले ही कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा दिया जा चुका है परन्तु कुछ लोग पुनः पुनः नूतन प्रश्न के रूप में पेश करते रहते हैं।

मार्क्सवाद की व्याख्या के बाद डी'मेलो पहले लेनिनवाद और फिर स्टालिनवाद की व्याख्या करते हैं। लेनिनवाद की व्याख्या शुरू करने के लिए वे लेनिन की प्रसिद्व किताब 'साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' का हवाला देते हैं और अगले दो–तीन पैराग्राफ में वे लेनिनवाद के बारे में बता के लेनिन की पार्टी सम्बन्धी अवधारणा व केन्द्रीय नेतृत्व को ही प्रश्नों के घेरे में ले आते हैं यहां वे लेनिन, स्टालिन व ट्राटस्की को एक बराबर रखते हुए माओ की प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने 'जनवादी केन्द्रीयता' के प्रश्न पर ठीक ढंग से जनवाद के पक्ष पर जोर दिया जबकि उपरोक्त नेता केन्द्रीयता के पक्षधर थे। उन्हें लेनिन के 'वालंटियरिजम्' से भी आपत्ति है। इसके लिए वे पहले 'डिटरमिनिस्ट' (नियतिवादी) व 'वालंटिरिस्ट' की बहस उठाते हैं। और फिर इंसाफ करते हुए कहते हैं कि मार्क्सवाद उपरोक्त दोनों में से कुछ नहीं है। असल में यहां वे इस सम्बन्ध में लेनिनवादी धारणा के समझने में अपनी असमर्थता सिद्व करते हैं।

लेनिनवाद की वे वही परिभाषा प्रस्तुत करते हैं जो स्टालिन ने दी है। स्टालिन की पारिवारिक पृष्ठभूमि की और कुछ अन्य कार्यों की कुछ प्रशंसा करने के बाद वे स्टालिन के ऊपर एक के बाद एक तोहमतें लगाते जाते हैं। वे स्टालिन पर लेनिनवाद और समाजवाद को कब्र में भेजने का आरोप लगाते हैं और यहां वे अपना पसंदीदा जुमला दोहराते हैं कि जो जनवादी नहीं है वह कभी भी समाजवादी नहीं हो सकता है। डि'मेलो लिखते हैं,

> ''लेकिन, दूसरी तरफ उन्होंने लेनिनवाद और समाजवाद को कब्र में भेज दिया– कि जो जनवादी नही होगा वह कभी भी समाजवादी नहीं हो सकता है।'' (पेज–**28,** पैरा दो)

बेचारे! स्टालिन डी'मेलो से विशेषण युक्त डेमोक्रेट तो क्या साधारण डेमोक्रेट का भी खिताब नहीं पा पाते हैं। इसके आगे के पैराग्राफ तो बस उन बातों का दोहराव भर है जो त्रात्स्की और दुश्चेव जैसे संशोधनवादियों ने स्टालिन के बारे में की हैं। यहां वे माओ से सीखने को बिल्कुल तैयार नहीं हैं। वे इस बात की चर्चा ही नहीं करते कि माओ ने स्टालिन के बारे में क्या कहा था। डी'मेलो ने स्टालिनवाद शब्द का दोहराव लेनिनवाद से उनकी दूरी दिखाने के लिए किया। राफेल मिलीबैंड का हवाला देते हुए वे स्टालिनवाद की यह परिभाषा देते हैं,

> ''स्टालिनवाद–लेनिनवाद का एक विघटित **(decomposed)** संस्करण **(Verson)** है जो कि गहराई से सोवियत संघ की उस हुकूमत (regime) से जुड़ा है जो **1920** के दशक के उत्तरार्ध से स्टालिन की मृत्यु **(1953)** तक कायम रही ... ... '' (पेज.**30,** पैरा.**2**)

और उसके बाद डि'मेलो रालफ मिलीबैंड की रूसी इतिहास के संदर्भ में कही गयी बातों पर जोर देते हैं और उन्हें स्टालिनवाद के रूप में बिन्दुवार पेश करते हैं। इन बिन्दुओं में स्टालिन के एक देश में समाजवाद के निर्माण की धारणा, समाजवाद के अंदर एक सुदृढ़ राज्य **(state)** का निर्माण, समाजवाद के विकास के साथ वर्ग संघर्ष का तीव्र होना, व्यक्ति पूजा और सर्वोच्च नेता की इच्छा का निरन्तर ध्यान रखना, जबरदस्ती सामूहिकीकरण व तीव्र औद्योगीकीकरण, विरोधियों का दमन व बोल्शेविक क्रांति के मुख्य नेताओं का कत्ल आदि के साथ आम लोगों को जबरदस्ती श्रम सुधार गृहों में रखना आदि–आदि बातें शामिल हैं।

डि' मेलो का स्टालिन के खिलाफ किया गया विषवमन त्रात्स्की और
दुश्चेव और उनके अनुयायियों द्वारा लिखी गयी किताबों से सीख पढ़कर किया गया है। 'मंथली रिव्यू' वर्षों से इस या उस बहाने इसी तरह स्टालिन के खिलाफ विषवमन करती रही है। यहां एक और काम यह किया जाता है कि माओ द्वारा स्टालिन की की गयी आलोचना को अपने प्रमाण व अपने तर्कों को पुष्ट करने के रूप में पेश किया जाता है।

बहुत पहले 'महान बहस' के समय माओ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने घोषित किया था स्टालिन का मूल्यांकन का सवाल उसूल का सवाल है। और जो कोई स्टालिन को त्याग देता है वह असल में लेनिन और इस तरह सम्पूर्ण मार्क्सवाद को ही त्याग देता है। डि' मेलो के लिए यह क्या अच्छा नहीं होता कि वे स्टालिन के बारे में माओ द्वारा किये गये वैज्ञानिक व सटीक मूल्यांकन को अपनाते और इस तरह से सर्वहारा की वैज्ञानिक विचारधारा –मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओ विचारधारा से सही ढंग से प्रशिक्षित होते और जिस व्यक्ति (अनुराधा गांधी) की चर्चा से वह लेख शुरू करते हैं वे इस तरह से प्रशिक्षित हो उन्हें भी सच्ची श्रृद्वांजलि दे सकते हैं। हम उम्मीद तो कर सकते हैं परन्तु डि' मेलो शायद ही ऐसा करें क्योंकि 'मंथली रिव्यू' जैसी पत्रिका वैचारिक अनुशासन नहीं वैचारिक स्वच्छंदता सिखाती है। वैसे भी एक डेमोक्रेट को सर्वहारा अनुशासन से हमेशा ही भारी दिक्कत होती है। अनुशासन का सवाल उठते ही उसे अक्सर ही लगता है कि पूंजीवाद में समाजवाद से ज्यादा जनवाद होता है। और क्योंकि वह अपने को वास्तविक रूप में सर्वहारा से जोड़ नही पाया होता है इसलिए उसे एक अर्थ में ठीक ही लगता है। उसका यह सच्चा अनुभव होता है।

स्टालिन के प्रति इतना अधिक निंदात्मक रवैया रखने के बाद डि' मेलो माओ की प्रशंसा में कसीदे गढ़ने लगते हैं। ''माओवादः उद्विकास और विकास'' **(Maoism : Evolution and devlopement)** में वे माओवाद की उत्पत्ति और विकास को प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत करने में वे पुनः मंथली रिव्यू में छपे लेखों का सहारा लेते हैं। यहां वे यद्यपि विचारधारा, कार्यक्रम, रणनीति आदि सवालों को परस्पर उलझा देते हैं परन्तु तब भी उनका रुख माओ और उनके द्वारा किये गये प्रयोगों के प्रति सकारात्मक बना रहता है और वे अपनी समझ के अनुसार माओ की जनदिशा की प्रशंसा करते हैं।

माओ की जनदिशा को वे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं मानो माओ के द्वारा कही गयी बातें और दिशा उनके पूर्ववर्ती शिक्षकों से ना जुड़ी हों। उन्होंने इस संदर्भ मे कुछ न कहा हो। लेनिन और स्टालिन के इस संदर्भ में दिये गये योगदान को वह नहीं समझ पाते हैं। माओं ने जनदिशा के सूत्रों को भी मार्क्सवाद–लेनिनवाद से ही ग्रहण किया था और फिर इसका विकास करके और समृद्व किया था। जिस स्टालिन के प्रति डि' मेलो निंदात्मक रुख रखते हैं उन्होंने 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' के उपसंहार के अंतिम बिंदु **(6)** में वही बात कही जो किसी अन्य संदर्भ में माओ ने बाद में 'जनता से लो और जनता को दो' नामक सूत्रीकरण में कही थी। हम पाठकों की सुविधा के लिए उसे प्रस्तुत कर दे रहे हैं,

> ''**(6)** अन्त में, पार्टी के इतिहास से हमें यह शिक्षा मिलती है कि जब तक आम जनता से उसका व्यापक सम्पर्क नहीं होता, जब तक वह इस सम्बन्ध को लगातार मजबूत नहीं करती, जब तक वह आम जनता की आवाज सुनना और उसकी फौरी जरूरतों को समझना नहीं जानती, जब तक आम जनता को सिखाने के ही लिए नहीं बल्कि उससे सीखने के लिए तैयार नहीं रहती, तब

तक मजदूर वर्ग की पार्टी सच्ची जनपार्टी नहीं हो सकती, जो लाखों मजदूरों को और तमाम श्रमिक जनता का नेतृत्व कर सके। ... ...

''वह पार्टी मिट जाती है जो अपने को अपने छोटे से पार्टी के खोल में बंद कर लेती है, जो अपने को आम जनता से दूर कर लेती है, जो अपने ऊपर नौकरशाही जंग चढ़ जाने देती है।'' (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बाल्शेविक) का इतिहास, पेज–**356,** पैरा–**3** व **5** राहुल फा. लखनऊ)

डि' मेलो माओवाद के नाम पर काफी विचारधारात्मक भ्रम अपनी शिक्षा के स्रोत के कारण फैलाते हैं। माओवाद शब्द का इस्तेमाल चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने कभी नहीं किया परन्तु हाल के वर्षों में इसका चलन बढ़ा है और डि' मेलो इस शब्द को अपनाकर माओ के विचारों को जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं उसमें चीन की क्रांति की विभिन्न मंजिलों को एक रूप में आपस में उलझा दिया गया है। वे माओ विचारधारा के मर्म को समझने में सर्वथा असमर्थ साबित होते हैं। उनके अनुसार 'माओवाद' के निम्न हिस्से बनते हैं:

'पिछड़े हुए पूंजीवादी अर्ध सामन्ती समाजों में शहरी सर्वहारा वर्ग के स्थान पर गरीब किसान जो कि इन समाजों के भीतरी भागों से ताल्लुक रखते हैं आंदोलन का जनाधार बनते हैं', 'विभिन्न चरणों वाली क्रांति का सिद्वान्त जो कि बिना रुके हो और उसके क्रमानुसार चरण एक दूसरे से गहराई से जुड़े हों', 'नवजनवादी क्रांति की अवस्था जो कि पूंजीवाद को जनवाद के साथ ज्यादा संगत बैठाती है और इस तरह समाजवाद में रूपान्तरण की ओर बढ़ाती है।', ... 'जनवादी केन्द्रीयता का ''जनदिशा'' से योग इस बात को सुनिश्चित करता है कि ''जनवाद'' ''केन्द्रीयता'' के पीछे का स्थान नहीं लेगा। और जनता की नीतियां तय व उन्हें लागू करने में भूमिका सुनिश्चित करता है', 'उत्पादक शक्तियों, उत्पादन सम्बन्ध और अधिरचना के बीच के मुक्त सिरे वाले अंतर्सम्बंध (open ended interrelations) होते हैं और यह विचार कि राजनैतिक, प्रबन्धकीय और नौकरशाहाना सत्ताधारी अपने आपको शासकीय अभिजात गुट के रूप में गठित कर लेते हैं और कुछ समय बाद वह नये शोषक वर्ग का स्थान ले लेते हैं और इस प्रवृत्ति के खिलाफ जनता को संघर्ष करने के लिए निरन्तर आंदोलित करना (पेज**.43.44**)

अब 'माओवाद' की इस धारणा पर क्या टिप्पणी की जाय। डि' मेलो की 'स्वशिक्षा' व 'स्वस्पष्टीकरण की कोशिश' ने यहां भी वही कमाल दिखाया जो इससे पहले वे मार्क्सवाद और लेनिनवाद को समझने में दिखा चुके हैं।

डि' मेलो माओ से लेकर मार्क्स तक पर यह आरोप भी लगाते हैं कि वे 'वालंटिरिज्म' के शिकार रहे हैं। वे तब भी क्रांति की आस लगाये बैठते थे जब उसकी भौतिक परिस्थितियां तैयार नहीं होती थी और वे इसे लिए ''भौतिकवादी द्वन्द्ववाद'' की अंतरनिहित ताकत को ही उसकी कमजोरी का कारण मानते हैं।

पाल स्वीजी से मार्क्सवाद की शिक्षा लेने के दौरान उन्होंने जो यह कसौटी सीखी कि मार्क्सवाद की वैधता को उसके परिणामों से जांचा जा सकता है उन पर बहुत भारी पड़ती है। वे निराशा और हतप्रभ होकर प्रश्न करते हैं कि चीन और सोवियत संघ में क्यों मजदूरों और किसानों ने पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का प्रतिरोध नहीं किया। माओ काल की सारी शिक्षा–दीक्षा के बावजूद गरीब किसानों और मजदूरों ने ''पूंजीवादी पथ गामियों'' का विरोध क्यों नही किया। और वे घोषणा करते हैं कि 'माओवाद' ने **20**वीं सदी में समाजवाद का कोई कार्यकारी मॉडल पेश नहीं किया।

इस बात से डि' मेलो बहुत क्षुब्ध होते हैं कि माओ के अपने जीवन काल के अंतिम दिनों में चीन सोवियत संघ के खिलाफ अमेरिकी साम्राज्यवाद से तालमेल बिठाने की ओर बढ़ा।

डि' मेलो के उपरोक्त किस्म के विचार यह भली भांति स्पष्ट कर देते हैं कि वे समाजवादी राज्य के वैदेशिक व कूटनीतिक सम्बन्धों को पवित्रता के अजीब किस्म के चश्में से देखते हैं जिसमें लचीलेपन या रणकौशलात्मक चीजों का कोई महत्व नहीं है।

डि' मेलो ने 'माओवाद' की असफलता की जिस किस्म की बातें की है वह इस बात का परिचायक है कि उन्होंने माओ के सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा को कितना–कितना कम समझा है। वे अपने लेख में बार–बार ''भौतिकवादी द्वन्द्ववाद'' **(Materialist dialectis)** की चर्चा करते हैं परन्तु वे इसे कहीं लागू करने को तैयार नहीं हैं। हर कहीं उनकी बातों में आदर्शवाद की गंध आती है। वैसे हम उनकी पद्वति की पहले ही चर्चा कर आये हैं। उनकी पद्वति सार संग्रहवादी है। वे अपने लेख में यही व्यवहार इतिहास के साथ भी करते हैं। मनमाने ढंग से तथ्यों को रखते हैं। उन तथ्यों, तर्कों, व्याख्याओं का हवाला तक नहीं देते है जो उनके 'माओवाद' के खिलाफ चले जाते हैं।

डि' मेलो की खिचड़ी विचारों की अभिव्यक्ति इस बात से भी होती है कि वे मार्क्स, एंगेल्स,लेनिन, त्रात्स्की, स्टालिन और माओ को एक ही श्रेणी में रख देते हैं। यह उनकी वैचारिक सीमाओं को उजागर कर देता हैं और इस रूप में वे मार्क्सवाद–लेनिनवाद–त्रात्स्कीवाद–माओवाद की अजीब किस्म की विचारधारा परोसते हैं। और एक बात गौर करने की है कि वे मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन व माओ के संशोधनवादियों के खिलाफ किये गये विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्ष को अपने संज्ञान में नहीं लेते हैं। सिर्फ यदा–कदा जैसे ल्यू श्याओ ची के संदर्भ में माओ की चर्चा करते हैं। विचारधारात्मक सवालों के प्रति डि' मेलो का उपेक्षा का भाव पूरे निबन्ध में छाया रहता है यद्यपि वे अपने सामने 'माओवाद' को स्पष्ट करने का कार्यभार रखते हैं।

डि' मेलो की थोड़ी प्रशंसा इस मामले में करनी होगी कि उन्होंने अपने लेख में सीपीआई (माओवादी) के बारे में फैलाये जा रही कई झूठी बातों का ठीक खंडन किया है और उनका समर्थन कई मामलों में करके उन्होंने साबित किया है कि वे ''सच्चे डेमोक्रेट'' हैं।

अब इस पुस्तक के भाग दो की ओर बढ़ते हैं। इस भाग का शीर्षक मार्क्सवाद : इसका क्रांतिकारी सार **(Marxism : its Revolutionary Essence)** है। इस भाग में पाल स्वीजी के लिखे हुए तीन लेख हैं। पहला लेख : 'मार्क्सवाद क्या है'? **(What is marxism?),** दूसरा लेख 'पूंजी की शताब्दी पर कुछ टिप्पणियां' **(Notes on the Centennial of Das Kapital)** व तीसरा लेख : 'मार्क्स के सौ साल बाद मार्क्स और क्रांति' (Marxism and Revolution 100 year after Marx) नाम से हैं।

इस भाग के पहले लेख पर हम पहले ही टिप्पणी कर चुके हैं कि यह मार्क्सवाद के सर्वहारा वर्ग के दर्शन के रूप में व्याख्या करने के स्थान पर उसे एक तरह वर्गोपरि स्वरूप प्रदान कर देता है। मार्क्सवाद के संदर्भ में लेनिन ने जो कहा है अगर उसे हम पाल स्वीजी की परिभाषा के साथ रख कर पढ़ें तो स्पष्ट हो जायेगा कि पाल स्वीजी की धारणा में वर्ग की अनदेखी मार्क्सवाद को समझने में कितनी घातक हो सकती है। लेनिन ने एक स्थान पर लिखा था,

'' प्रसिद्व उक्ति है कि अगर रेखा गणित की स्वयं सिद्वियां लोगों के हितों से टकराती, तो शायद उन्हें भी गलत साबित किया जाता। धर्मशास्त्र के पुराने पूर्वाग्रहों से टकराने वाले प्राकृतिक–ऐतिहासिक सिद्वान्तों ने अधिकतम प्रचंड संघर्ष पैदा किये और अब तक पैदा करते आये हैं। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि मार्क्स का सिद्वान्त, जो आधुनिक समाज के अग्रगामी वर्ग की शिक्षा तथा संगठन में प्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुंचाता है, उस वर्ग के कार्यभार बताता है और वर्तमान समाज–व्यवस्था की जगह एक नयी व्यवस्था की स्थापना की अनिवार्यता (आर्थिक विकास की बदौलत) सिद्व करता है, कोई आश्चर्य नहीं कि इस सिद्वान्त को अपने जीवन–पथ पर एक–एक कदम बढ़ाने के लिए लड़ना पड़ा।'' (लेनिन, मार्क्सवाद और संशोधनवाद, पृष्ठ–**375**,पैरा**1**, ग्रंथ.**3**,सं.र.दस खंडों में)

पाल स्वीजी मार्क्सवाद के मूलतः ज्ञान पक्ष या विचार पक्ष को ही प्रस्तुत करते हैं परन्तु उसके क्रियात्मक या व्यवहारिक पक्ष को अपनी निगाहों से ओझल कर देते हैं। वे आगे इस लेख में मार्क्स के अनुमानों विशेषकर यूरोप के विकसित पूंजीवादी देशों में क्रांति न होने का मामला उठाकर मार्क्सवाद पर कुछ आड़े–तिरछे प्रश्न खड़े कर देते हैं।

इस भाग का दूसरा लेख मार्क्स की कालजयी कृति पूंजी के प्रथम खण्ड के प्रकाशन के सौ वर्ष पूरे होने (यानी **1967**) के अवसर पर लिखा गया था। इस लेख के मार्फत स्वीजी ने मार्क्सवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अपनी टिप्पणी की है जिसमें मुख्य तौर पर यह बात भी कही गयी है कि मार्क्स के शिष्यों ने मार्क्स के सिद्वान्त में मौजूद अपर्याप्तता को समय रहते दूर नहीं किया।

इस भाग का तीसरा लेख मार्क्सवाद की उत्पत्ति और विकास पर कुछ जानी–पहचानी बातों के बाद मार्क्स की मृत्यु के सौ वर्ष बाद (**1883–1983**) दुनिया में हुई क्रांतियों और राजनैतिक घटनाक्रम पर टिप्पणियां करता है। मार्क्स के अनुमान के अनुसर यूरोप के विकसित देशों में क्रांतियों के न होने के सवाल पर यह चर्चा करते हुए लेखक मार्क्सवाद में अपनी कई मौलिक थीसिसों को और जोड़ते हैं। इन थीसिसों का किसी मार्क्सवादी–लेनिनवादी–माओ विचारधारा को मानने वाले के लिए कोई महत्व नहीं है। मार्क्स–एंगेल्स के सिद्वान्तों को लेनिन,स्टालिन व माओ ने क्रमशः उन्नत व समृद्व किया था। इसलिए आज बार–बार सर्वहारा क्रांतिकारियों द्वारा आज के युग के मार्क्सवाद को मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओविचारधारा के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

पाल स्वीजी अपने इस लेख के अंत में माओ की तारीफ करते हैं और मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन व माओ के विचारों को मानव मुक्ति आंदोलन के लिए महान प्रेरणादायी बताते हैं। परन्तु वे स्टालिन के विचारों व योगदान को नजरअंदाज कर जाते हैं।

भाग **3** का शीर्षक 'लेनिनवाद और इसका स्तालिनवादी विघटन') (leninism and its Stalinist Decomposition) है। इस भाग में दो लेख हैं। पहला लेख हैरी ब्रेवर मेन का 'लेनिन और स्टालिन' शीर्षक से तथा दूसरा राल्फ मिलीबैंड का 'राज्य और क्रांति' शीर्षक से है।

इस भाग का शीर्षक ही बता देता है कि इसके अन्दर क्या मसाला है। शीर्षक के अनुरूप स्टालिन की खूब लानत–मलानत की जाती है। 'लेनिन और स्टालिन' शीर्षक लेख एक पुस्तक 'लेनिन का अंतिम संघर्ष' (lenin's last struggle) जिसे मोशे लेविन ने लिखा है की समीक्षा है। लेनिन का यह 'अंतिम संघर्ष' पुस्तक लिखने और उसकी समीक्षा करने वालों के हिसाब से स्टालिन के खिलाफ था। लेनिन ने स्टालिन के बारे में जो कहा था वो तो काफी जगजाहिर है लेकिन लेनिन ने उसी ''कांग्रेस के नाम पत्र'' जिसे लेनिन का अंतिम पत्र भी कहा जाता है में त्रात्स्की के बारे में जो कहा उसे त्रात्स्कीपंथी भूलकर भी याद नहीं करना चाहते। हैरी ब्रेवरमेन भी ऐसा ही करते हैं। वे स्टालिन के खिलाफ जितने जोर–जोर से हमला बोलते हैं उतने ही त्रात्स्की के प्रति नरम हैं। मजे की बात यह है कि लेनिन को ब्यूरोक्रेसी का खतरा त्रात्स्की में कम नहीं दिखाई देता था। उस ''अंतिम पत्र'' में लेनिन ने लिखा,

'' वह खुद, शायदा, मौजूद केन्द्रीय समिति के सबसे योग्य व्यक्ति हैं, परन्तु जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वासी हैं और मसले के विशुद्व प्रशासनिक पहलू के प्रति उनका ज्यादा अनुराग है।'' (पृष्ठ.**307,** खण्ड.**10,** वही)

लेनिन त्रात्स्की के विचारों के बारे में क्या राय रखते थे यह वर्णन उनके **1914** में लिखे एक लेख ''एकता की चीख पुकार की आड़ में एकता का उल्लंघन'' में अच्छे ढंग से किया गया है। यहां हमारा उद्देश्य लेनिन के द्वारा त्रात्स्की के मूल्यांकन का नहीं बल्कि हम सिर्फ इतना बता देना चाहते हैं कि त्रात्स्कीपंथी और उनसे सहानुभूति रखने वाले लोग स्टालिन पर हमला करने के लिए लेनिन की बातों और चिंताओं का बेकार ही सहारा लेते हैं। इतिहास ने बहुत अच्छी तरह से साबित कर दिया है कि कौन सर्वहारा वर्ग के हितों की सेवा कर रहा था और कौन गद्दार साबित हुआ।

यहां एक बात और गौर करने की है कि यह पुस्तक ''लेनिन का अंतिम संघर्ष'' और मंथली रिव्यू में उसकी समीक्षा कब छपी थी। पुस्तक का प्रकाशन वर्ष **1968** और उसकी समीक्षा **1969** में छपी थी। यह वही काल है जब सोवियत संशोधनवादियों से लेकर तमाम प्रतिक्रियावादी व साम्राज्यवादी स्टालिन के खिलाफ स्वर में स्वर मिलाकर एक से बढ़कर एक झूठे आरोप लगा रहे थे। त्रात्स्कीपंथी न केवल इस काम में उनका साथ दे रहे थे बल्कि मार्क्सवाद–लेनिनवाद के नाम पर झूठे व गलत सिद्वान्तों का प्रचार भी कर रहे थे। लेविन और उनकी किताब की समीक्षा के बहाने 'मंथली रिव्यू प्रेस' के डायरेक्टर हैरी ब्रेवरमेन यही काम कर रहे थे।

इस भाग का दूसरा लेख 'राज्य और क्रांति' के नाम पर फिर वही पुराने सवाल दुहराता है जिनका जवाब मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन अैर फिर माओ ने अलग–अलग संदर्भों में दिया हुआ है। राज्य का प्रश्न एक ऐतिहासिक प्रश्न है जिसका विलोप एक ऐसे लम्बे ऐतिहासिक कालखण्ड की मांग करता है। इसे ही माओ ने समाजवादी समाज की दीर्घावधि और उस दौरान एक के बाद एक ढेरों सांस्कृतिक क्रांति की निरंतर आवश्यकता के रूप में चिर्ति किया। मिलीबैड के सवाल के निशाने में इस लेख के माध्यम से स्टालिन है और ''स्थायी सेना बनाये रखने'', ''राज्य के विलोप करने की ओर न बढ़ने'',''पार्टी की भूमिका को केन्द्र में रखने और उसके जरिये ही सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने'',''वर्ग की नही पार्टी की तानाशाही'' जैसी बातों का तूमार बांधकर मिलीबैंड ढेरों गैर वैज्ञानिक आदर्शवादी धारणाएं प्रस्तुत कर देते हैं।

पुस्तक के चौथे भाग के शीर्षक ''यह सब कहां से शुरू होता है : चीन में माओवाद'' **(Where it all Began: Maoism in China)** है। इस भाग में चार लेख हैं।

पहला लेख जान जी ग्रुले का लिखा है। ये अमेरिका के स्टैनफोर्ड विश्व विद्यालय में प्रोफेसर हैं। लेख का शीर्षक ''माओ की आर्थिक रणनीति का निर्माण, **1927–1949**'' **(the formation of Mao's Economic Strategy, 1927-1949)** है। इस लेख का एकांगीपन इसके शीर्षक से स्पष्ट होने लगता है। लेखक का मुख्य जोर माओ की ''आर्थिक रणनीति'' के जन्म और विकास पर है। परन्तु लेखक जहां–तहां पार्टी कार्यशैली (party functioning) का सवाल भी उठाते रहते हैं। 'मंथली रिव्यू' के लेखों में छाया रहने वाले विचारधारात्मक विभ्रम के दर्शन इस लेख में जहां–तहां होते हैं। जैसे ग्रुले साहब इस किताब के पेज **147** के पैरा **2** में जब माओ के शुरुआती लेखों की चर्चा करते हैं तो वे भ्रम फैलाते हैं कि माओ ने तब सबसे पहले राजनीति,फिर अर्थशास्त्र और फिर अधिरचना को रखा था। कोई भी मार्क्सवादी जानता है कि राजनीति अधिरचना का हिस्सा है और जब वे पेज **164** के पैरा **2** में माओ को उद्धृत करते हैं तो उसमें यह बात स्पष्ट तौर पर लिखी है। ग्रुले का प्रथम, द्वितीय और तृतीय का उपरोक्त विभाजन पेज **165** में फिर दिखाई देता है।

ग्रुले इस लेख में माओ के ऊपर आरोप लगाते हैं कि उन्होंने कन्फ्रयूसियस के मूल्यों को परिष्कार कर उन्हें आगे बढ़ाया। वे बड़ी अजीबो–गरीब बातें भी करते हैं जैसे वे बताते हैं कि माओ को तो अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने की चुनौतियो का ज्ञान क्रांति के पूर्व ही काफी अच्छे ढंग से हासिल हो गया था परन्तु बोल्शेविकों को यह सत्ता को हासिल करने के बाद ही पता लगा।

ग्रुले ने इस लेख में चीन की क्रांति की प्रक्रिया, माओ के विश्लेषण, नीतियों और उनके प्रभाव के क्षेत्र आदि के जो रेखाचित्र व सारणी बनायी है वह उनकी यांत्रिक व एकांगी सोच को दर्शाती है। यह सब बेहद फुहड़ व हास्यास्पद है।

इस भाग के दूसरे लेख का शीर्षक 'चीन : यू.एस.एस.आर. के सापेक्ष'' (China : Contrasts with U.S.S.R.) है। इसके लेखक हैरी मैगडौफ हैं। यह लेख सोवियत संघ, चीन की अर्थव्यवस्था और नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन है। यह सोवियत संघ के समाजवाद और चीन के समाजवाद के समक्ष मौजूद रही चुनौतियों और खासकर सोवियत संघ के अनुभव से चीन ने कैसे सीखा का अच्छा वर्णन है। यह लेख अपने अन्दर निहित कुछ विचारधारात्मक झोलों के बावजूद पठनीय व सूचनाप्रद है। लेखक अपने लेख के निष्कर्ष में पाठकों को

ठीक ही याद दिलाते हैं कि चीन जैसे पिछड़े व गरीब देश में हुई इस क्रांति ने कैसे मानवजाति के इतिहास में अब तक हुई सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में अपने को शुमार किया है।

इस भाग के शेष लेख विलियम हिण्टन के है। पहले लेख का शीर्षक ''माओ, देहात का विकास, और दो लाइनों का संघर्ष'' (Mao, Rural devlopment, andTwo-line Struggle) है। तथा दूसरे का शीर्षक ''माओ की भूमिका के बारे में'' (On the role of MaoZedong) है। विलियम हिण्टन माओ विचारधारा के असंदिग्ध प्रचारक और चीन की क्रांतियों के प्रबल समर्थक तथा प्रत्यक्ष गवाह रहे हैं। उनकी रचनाओं में यह बात बार–बार सामने आती रही है। उन्होंने चीन की क्रांति, उसके समक्ष मौजूद चुनौतियों और माओ की मृत्यु के बाद वहां हुई पूंजीवादी पुनर्स्थापना और उसके कारण मजदूरों–किसानों के बदहाल जीवन का बार–बार खुलासा किया था। वे चीनी पूंजीवादी पथगामियों के कट्टर आलोचक थे। चीन के बारे में उनकी रचनाएं इतिहास के दस्तावेज का महत्व ग्रहण कर चुकी हैं।

विलियम हिण्टन के ये दोनों लेख पठनीय और शिक्षाप्रद हैं।

पुस्तक के पांचवे भाग का शीर्षक 'भारत और नेपाल में माओवाद' (Maoism in India and Nepal) है। इसमें तिलक डी गुप्ता के लिखे दो लेख, 'नक्सलवादी आंदोलन में हालिया विकास' (Recent Devlopements in the Naxalite Movement) व 'भारत में माओवाद : विचारधारा, कार्यक्रम और सशस्त्र संघर्ष' (Maoism in India : Ideology,Programme and armed Struggle) शीर्षक से हैं। इन दो लेखों के अलावा डब्ल्यू पी आर एम (ब्रिटेन) के द्वारा नेपाल की माओवादी पार्टी के नेता बाबूराम भट्टराई का इण्टरव्यू **[Interview With Baburam Bhattarai: transition to New Democratic Republic in Nepal WPRM (Britain)**, है।

तिलक डी गुप्ता ने जहां अपने पहले लेख में नक्सलवादी आंदोलन के इतिहास को अपने लेख में दर्ज किया वहीं उन्होंने अपने दूसरे लेख में नेपाल के अनुभवों की चर्चा करते हुए भारतीय क्रांति के समक्ष मौजूद चुनौतियों के हवाले से भारतीय क्रांति के कार्यक्रम के सवाल को उठाया है।

बाबूराम भट्टराई ने अपने इण्टरव्यू में नेपाल की क्रांति के विकास और उसके समक्ष मौजूद चुनौतियों के साथ ढेरों ऐसे सवाल खड़े किये जिनका अर्थ वर्तमान समय में फैले विचारधारात्मक विभ्रमों को और बढ़ाना है। वे 'मल्टी पार्टी डेमोक्रेसी' जैसी बातों को प्रस्तुत करके सर्वहारा अधिनायकत्व की मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ की शिक्षाओं से भटक जाते हैं।

पुस्तक के अंतिम भाग का शीर्षक 'रेडिकल डेमोक्रेसी के वायदे' (The promise of Radical Democracy) है। इस भाग में तीन लेख हैं। ये तीनों ही पाल स्वीजी की रचनाएं हैं। पहले लेख का शीर्षक 'पूंजीवाद और जनवाद' **(Capitalism and Democracy)**, दूसरे का 'गरीब देशों में समाजवाद' (Socialism in Poor countries) व तीसरे का 'समाजवाद : विरासत और पुनरुत्थान' (Socialism : legacy and Renewal) है।

विचारधारात्मक भटकावों से भरे ये लेख बेहद सामान्य किस्म के हैं। पाल स्वीजी पूंजीवाद के कटु आलोचक समाजवाद के प्रति आशावान रहे हैं और इसी बात की घोषणा वे अपने इन लेखों में करते हैं।

कुल मिलाकर, डी' मेलो का यह संकलन दर्शन और विचारधारा के तौर पर यह बताने में बिल्कुल असमर्थ है कि 'माओवाद' क्या है। पांच अंधों के हाथी के वर्णन वाली कहानी की तरह ही इस पुस्तक को पूरे तौर पर पढ़ जाने के बाद भी आप यह नहीं समझ पाते हैं कि डी' मेलों का 'माओवाद' क्या है। वैसे उन्होंने मेहनत बहुत की है। परन्तु हाथी की पूंछ को घण्टों पकड़े रह कर भी कोई अन्धा क्या बता सकता है कि हाथी क्या है। डी' मेलो और उनके शिक्षक अकादमिक लोग हैं। अकादमिक बुद्विजीवी जिस ढंग से मार्क्सवाद ग्रहण और उसकी व्याख्या करते हैं वही ढंग इस पुस्तक में अपनाया गया है। इनका मार्क्सवाद 'बुर्जुआ मार्क्सवाद' है। इस पुस्तक में यही मार्क्सवाद छाया हुआ है।

II माकपा की 'माओवाद' की आलोचनाः 'गाय मार कर जूता दान'

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के चरित्र के बारे में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को उसकी उत्पत्ति के कुछ समय बाद ही पूर्णतः स्पष्ट हो गया था कि सीपीआई से टूटकर बनी यह पार्टी संशोधनवाद के कीचड़ में गले तक डूबी है। पिछले चार पांच दशकों में इसके व्यवहार ने उन तमाम लोगों की आंखों की पट्टी भी खोल दी जिन्हें इसके चरित्र के बारे में कुछ संदेह था या फिर जो माकपा के प्रचारतंत्र के झांसे में आ गये थे। माकपा का प्रचारतंत्र काफी संगठित रहा है और आज भी यह अपना काम पूरी 'तत्परता' से करता है। इसके प्रकाशन संस्थान 'लेफ्रट वर्ड' के द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'माओवाद एक आलोचना वाम से' अपने समर्थकों और आम पाठकों को झांसे देने का प्रयास है।

इस पुस्तक में इसके गेटअप से लेकर विषय वस्तु में देश में सक्रिय क्रांतिकारियों विशेषकर सीपीआई (माओवादी) का विद्रूपीकरण करने के लिए इसके लेखकों द्वारा ऐड़ी–चोटी का जोर लगा दिया गया है। 'माओवाद' की खिल्ली उड़ाने के लिए इस पुस्तक के मुख पृष्ठ में छपे शीर्षक में माओवाद की अंग्रेजी की वर्तनी (Maoism) में **i** के स्थान पर एक बन्दूक रख दी गयी। पुस्तक के गेटअप में ही इसके लिए अंग्रेजी के स्मॉल लैटर का प्रयोग किया गया है। यानी सम्पादक 'माओवाद' की आलोचना के लिए घृणित से घृणित हथकण्डा अपनाने को तैयार है।

इस पुस्तक में मुख्यतः तीन निबन्धों का संकलन है। प्रस्तावना इस पुस्तक के सम्पादक प्रसेनजित बोस ने लिखी है। ''भारतीय माओवादी : गलत रणनीति और पतित व्यवहार (Indian Maoists : Flawed Strategy and Perverted praxis) पी एम एस ग्रेवाल, दूसरा निबन्ध ''माओवाद की त्रासदी'' (the Tragedy of Maoism), नीलोत्पल बसु तथा तीसरा निबन्ध 'माओवाद का प्रतिलोम' (the antinomies of Maoism) विजय प्रकाश का लिखा है। इसके अलावा एक परिशिष्ट दिया गया है जिसमें जून **1968** में सीपीआई (मार्क्सवादी) के पोलित ब्यूरो द्वारा 'वैचारिक बहस का सार संकलन'**{**Ideological Debate Summed Up [Excerpts] polit bureau Communist Party of Indi (Marxist)**}** के कुछ हिस्से दिये गये हैं।

पुस्तक क्योंकि माकपा के महासचिव प्रकाश करात के स्पष्ट निर्देशन में उन्हीं के पार्टी के लोगों या उनके समर्थकों द्वारा लिखी गयी है तों यह उम्मीद 'आभार' में व्यक्त विचारों के साथ ही खत्म हो जाती है कि इस पुस्तक में सत्य के कुछ दर्शन होंगे। मार्क्स, लेनिन के उद्वरणों को यहां–वहां तोड़–मरोड़ के पेश किया गया है और मनमाने निष्कर्ष निकाल कर पाठकों को भ्रमित करने का प्रयास किया गया है। लेखकों ने 'वामपन्थी कम्युनिज्म' की आलोचना के सहारे यह स्थापित करने की कोशिश की है कि समाजवाद बिना क्रांति के, बिना सशस्त्र संघर्ष के मात्र जनसंघर्षों और चुनाव में भागीदारी के साथ लाया जा सकता है। चुनाव में भागीदारी रणकौशल का नहीं रणनीति का मामला बना दिया गया है। और उससे भी आगे बढ़कर '**21**वीं सदी के समाजवाद' के नाम पर इसे सीधा और एकमात्र रास्ता बता दिया गया है।

पुस्तक में माओवादियों द्वारा की जा रहीं 'हिंसा' की कटु आलोचना है और उसे हर तरह से गलत ठहराया गया है परन्तु भारतीय राज्य और स्वयं माकपा की गुण्डावाहिनी (हरमदों) के द्वारा फैलाई जा रहीं हिंसा पर एकदम मौन साध लिया गया है। पश्चिम बंगाल में माकपा के नेतृत्व वाली वाम मोर्चा की सरकार के हाथ खून से एकदम सने हुए है। और वह भारत की केन्द्र सरकार के स्पष्ट निर्देश और सुरक्षाबलों के साथ मिलकर आये दिन माओवादियों व निर्दोषों की हत्या कर रही है और झूठे मुकदमों में सैकड़ों लोगों को घोर यातना देकर जेल में डाल चुकी है परन्तु यह पुस्तक इस विषय पर एक शब्द भी नहीं बोलती है। यहां तक नंदीग्राम, सिंगूर, लालगढ़ की घटनाओं को तथ्य के बतौर भी अपने संज्ञान में नहीं लेती है। स्पष्टीकरण देना तो बहुत दूर की बात है। माकपा की बेशर्मी से जो परिचित होना चाहते हैं उन्हीं को इस किताब को पढ़ना चाहिए। बेशर्मी की हद यह है कि जिन्होंने कई दशक पहले ही क्रांति से गद्दारी करके बुर्जुआ का पल्लू पकड़ लिया है वे क्रांतिकारियों को यह शिक्षा देना चाहते है कि मार्क्स, लेनिन, माओ के विचार क्या हैं और उन्होंने विभिन्न संदर्भों में क्या सिद्वान्त पेश किये हैं, क्या बातें कही हैं।

पुस्तक के परिचय में सम्पादक दावा करते हैं कि वे 'माओवाद', या 'वामपंथी अतिवाद' **(left wing extremism)** के विचारधारात्मक आधार, सामाजिक जमीन और ऐतिहासिक उत्पत्ति के बारे में इस पुस्तक में बतायेंगे परन्तु यह दावा खोखला है और पुस्तक में पृष्ठ दर पृष्ठ माओवादियों या नक्सलवादियों को गाली दी गयी है और अपने संशोधनवाद, संसदीय जड़ वामनता को जायज ठहराया गया है। और अपने को सही साबित करने के लिए मार्क्स, लेनिन से लेकर देंग श्याओं पिंग की गवाही दिलायी गयी है।

पुस्तक का परिचय लिखते हुए प्रसेनजित बोस ने लेनिन की पुस्तक 'वामपंथी कम्युनिज्मः एक बचकाना मर्ज' को उद्धृत करते हुए जो बात कही है वह माओवादियों के 'वामपंथी अतिवाद' का खुलासा करने के स्थान पर माकपा के अवसरवाद को ही बयान करती है। या दूसरे शब्दों में 'मियां की जूती मियां के सिर' वाली कहावत को चरितार्थ करती है। वे लिखते हैं कि मजदूर वर्ग के आंदोलन में दो प्रवृत्तियों 'अवसरवाद' जो कि बाद में सामजिक अंधराष्ट्रवाद **(Social-chauvinism)** में विकसित हो जाता है और निश्चित रूप से बुर्जुआ वर्ग के साथ खड़ा होता है तथा 'निम्न बुर्जुआ क्रांतिकारिता' जो कि अराजकतावाद से लिपटा होता है ने काफी नुकसान पहुंचाया है और ये दोनों ही मजदूर आंदोलन की आवश्यकता नहीं है। माकपा ने अपने बारे में उपरोक्त बात को सही साबित किया है कि वह बुर्जुआ वर्ग की ही पार्टी है। सच यही है कि **1964** में भाकपा से अलग होने के बाद माकपा ने संशोधनवाद की राह अधिक चतुराई से पकड़ी। और समय ने इसे सही साबित किया। माकपा जो कि एक तरफ दुश्चेवी संशोधनवाद की माओ व चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आलोचना को ठीक मानती थी दूसरी तरफ वह सोवियत संघ का जब तक पतन नहीं हो गया तब तक वहां समाजवाद मानती थी। सांस्कृतिक क्रांति को वामपंथी संकीर्णतावाद की अभिव्यक्ति के साथ वह देंग श्याओ पिंग को सही ठहराती थी। आज चीन, क्यूबा, वियतनाम, उत्तरी कोरिया आदि आदि देशों में समाजवाद मानने के साथ वह लैटिन अमेरिका के देशों के नये किस्म के समाजवाद की प्रशंसक है। लेनिन के हवाले से वह दावा करती है कि समाजवाद तक पहुंचने के कई रास्ते हो सकते हैं। **21**वीं सदी के इस नये किस्म के समाजवाद में कम्युनिस्ट पार्टी की आवश्यकता भी नहीं रह गयी है। और यदि हम माकपा–भाकपा को पार्टी की लेनिनवादी सिद्वान्तों की कसौटी पर कसें तो हम पायेंगे भले ही इन पार्टियों ने अपने नाम में कम्युनिस्ट शब्द जोड़ा हुआ है परन्तु ये वास्तव में सामाजिक जनवादी पार्टी ही हैं। और प्रसेनजित बोस की 'वामपंथी कम्युनिज्मः एक बचकाना मर्ज' की व्याख्या के अनुसार ये अवसरवाद के दलदल में धंसकर सामाजिक अंधराष्ट्रवाद में तब्दील होकर पूरी तरह से भारत के बुर्जुआ वर्ग के साथ खड़ी हैं। 'माओवाद' की आलोचना इसी जमीन पर खड़े होकर ही इस पुस्तक में की गयी है। इसके प्रत्येक लेख का प्रस्थान व संन्दर्भ बिंदु यही है। बुर्जुआ वर्ग 'माओवाद' के प्रति जो रुख रखता है वही रुख इस पुस्तक के लेखकों का भी है बस फर्क इतना है वह मार्क्स, लेनिन, माओ का नाम लेकर यह काम नहीं करता है। पुस्तक के लेखकगण यही काम धूर्तता, वाक्जाल के साथ बार–बार मार्क्स, लेनिन, माओ का नाम लेकर करते हैं।

पुस्तक के पृष्ठ.**16** (पैरा.**1**) में प्रसेनजित बोस भारत में **1970** के दशक में नक्सलवादी आंदोलन की असफलता के बाद इस आंदोलन में सक्रिय भागीदारों द्वारा अपनी विचारधारात्मक कमजोरियों के कारण सही सबक न निकाल पाने का सवाल उठाते हैं और फिर बताते हैं कि जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने माओ की मृत्यु के बाद अपने आप को ठीक कर लिया है और सांस्कृतिक क्रांति को कूड़ेदान में फेंक दिया है तो फिर नक्सलवादी क्यों नहीं अपने आपको विचारधारात्मक तौर पर 'सही' अवस्थिति पर खड़ा करते हैं। फिर सीपीआइ (एमएल) लिबरेशन और न्यू डेमोक्रेसी के आधार पर वे सीपीआइ (माओवादी) की आलोचना करते हैं कि वह क्यों नहीं सशस्त्र संघर्ष की राह को त्याग के, संसदीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अपना लेती है। प्रसेनजित बोस इस तरह से अपनी पार्टी और अपने सच्चे चरित्र का उद्घाटन कर देते हैं।

इस पुस्तक का पहला निबन्ध 'गलत रणनीति व पतित व्यवहार, (Flawed Strategy and Perverted Praxis) सीपीआई (माओवादी) पर कई दिशाओं से हमला बोलता है। इस हमले का दायरा वर्तमान आंदोलन ही नहीं बल्कि अतीत भी है। यानी नक्सलबाड़ी आंदोलन से लेकर तेलंगाना आंदोलन **(1948–51)** को सीपीआई (माओवादी) के वर्तमान 'वाम संकीर्णतावाद' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में पेश करके अमान्य कर दिया जाता है। सीपीआई (माओवादी)पर वाम संकीर्णतावाद के अलावा जो आरोप लगे हैं, वे इस प्रकार हैं : इस्लामिक आतंकवादियों व जेहादियों के समर्थक, सोवियत संघ (में **1990** तक), चीन, क्यूबा में समाजवाद से इंकार, चीनी रास्ते के अंध समर्थक, संगठित वाम (यानी माकपा–भाकपा आदि) के प्रति अंधा वैर, तीन दुनिया के सिद्वान्त के समर्थक आदि, आदि।

यह निबन्ध माकपा को सच्चे वाम के रूप में प्रस्तुत करता है जिसके खिलाफ यूपीए सरकार, तृणमूल कांग्रेस और माओवादियों ने गठजोड़ कायम कर लिया है। यहां घोर दक्षिणपंथी और घोर वामपंथी यानी सभी इस सच्चे व संगठित वाम के खिलाफ हैं। पी.एम.एस. ग्रेवाल का यह लेख तो सच्चे से सच्चे व अच्छे से अच्छे माकपा कार्यकर्ता को भी हजम नहीं हो पायेगा। यदि माकपा के कार्यकर्ताओं (हरमद व गुण्डों) की हत्याएं हुई हैं तो इन कार्यकर्ताओं ने पुलिस व केन्द्रीय बलों के साथ मिलकर व अकेले भी सैकड़ों माओवादियों व बीसियों तृणमूल कांग्रेस पार्टी के कार्यकर्ताओं व समर्थकों की हत्याएं की हैं। सिंगूर, नंदीग्राम, लालगढ़ समकालीन भारत में ऐसे नाम हैं जो कुछ कहे बगैर माकपा के राजनैतिक चरित्र व कार्यशैली का बयान कर देते हैं।

भाकपा (माओवादी) के कार्यक्रम, रणनीति, रणकौशल की माकपा द्वारा की गयी आलोचना अपने सार व अंतर्वस्तु में वैसी ही है जैसी भारत के शासक वर्ग के अन्य हिस्सों द्वारा की जाने वाली आलोचना है। बस फर्क यह है कि बुजुर्आ वर्ग के अन्य हिस्से इस आलोचना को लोकतंत्र, संविधान, मानवाधिकार आदि शब्दों की आड़ में करते हैं जबकि माकपा इसे मार्क्सवाद, समाजवाद, रूस व चीन के अनुभव आदि–आदि के जरिये करती है। ऐसा करते वक्त वह अपने आपको भारत के बुर्जुआ वर्ग से अलग साम्राज्यवाद व पूंजीवाद की आलोचक तथा समाजवाद के प्रति दृढ़ रूप से समर्पित राजनैतिक ताकत के रूप में प्रस्तुत करती है। देश में ऐसा कौन होगा जो मनमोहन सिंह व प्रकाश करात, चिदम्बरम् व बुद्वदेव भट्टाचार्य के कंठ से निकले सुरों, उनकी एक ताल व एक राग को न पहचान सके।

पी.एम.एस. ग्रेवाल साहब जो कि माकपा के केन्द्रीय कमेटी के सदस्य व दिल्ली इकाई के सचिव हैं अपने उपरोक्त निबन्ध में इस बात से बेहद खफा हैं कि क्यों माओवादी सोवियत संघ में (स्टालिन की मृत्यु **(1953)** के बाद) **1956** से समाजवाद नहीं मानते हैं। क्यों उसे सामाजिक साम्राज्यवादी और **1970** के बाद उत्पीड़ित देशों व राष्ट्रीयताओं का शोषण करने वाला और दुनिया की जनता का दुश्मन मानते हैं। वे इस बात से भी बेहद खफा है कि माओवादी क्यों यह मानते हैं कि आज दुनिया में कहीं भी समाजवाद नहीं है। वे लगभग आग

बबूला होकर प्रश्न करते हैं कि इन्होंने क्यूबा का तो जिक्र नहीं किया है। ग्रेवाल साहब का क्रोध जायज है क्योंकि माकपा चीन, क्यूबा, वियतनाम, उत्तरी कोरिया आदि को आज भी, अपने कार्यकर्ताओं व समर्थकों के बीच समाजवादी राज्यों के रूप में पेश करती रहती है। ग्रेवाल साहब के अनुसार **1956** के बाद भी सोवियत संघ विश्व शांति का समर्थक, तीसरी व उत्पीड़ित देशों की राष्ट्रीय आजादी का निष्ठावान समर्थक, समाजवाद का गढ़ व प्रचारक तथा अन्य कई श्रेष्ठ चीजों का वाहक था। खैर! एक पतित संशोधनवादी ही दुश्चेव, ब्रेझनेव, गोर्वाचौफ, देंग जैसे मक्कारों का प्रशंसक हो सकता है।

ग्रेवाल साहब ने सीपीआई (माओवादी) के भारतीय क्रांति के कार्यक्रम व रणकौशल की खूब लानत मलामत की है और उन पर भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र को ठीग ढंग से न समझने का आरोप लगाया है। यह दीगर बात है कि माकपा भारतीय बुर्जुआ वर्ग के चरित्र को एकदम ठीक समझी और शायद इसीलिए व एकदम ठीक उसके बगल में जाकर खड़ी हो गई। लानत है ऐसी समझदारी को।

ग्रेवाल साहब अपने निबन्ध के उपशीर्षक 'चीनी रास्ते का अन्धानुकरण' (Blind pursuit of the Chinese path) में माओवादियों पर चीन की नवजनवादी क्रांति की अंधी नकल का आरोप लगाते हैं। हालांकि माओवादियों से कहीं ज्यादा यह आरोप उनकी अपनी पार्टी और स्वयं उन पर बनता है जो पहले दिन से देंग श्याओ पिंग जैसे घुटे हुए संशोधनवादी व पूंजीवादी पथगामी के पीछे–पीछे चल रहे हैं। ''बाजार समाजवाद'' या बाजारू समाजवाद ही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की तरह ही माकपा के दिलों को पिछले कई दशकों से रोशन कर रहा है। ग्रेवाल साहब इसके बाद अपने लेख में माओवादियों की ''व्यक्तिगत हत्यायें और आतंक'', ''चुनाव बहिष्कार और लोकतंत्र से इंकार'', ''राष्ट्रीयता के प्रश्न की विकृत समझदारी'', ''संगठित वाम के प्रति अंधा वैर'' जैसे उपशीर्षकों के अंतर्गत माओवादियों की जो आलोचना करते हैं उसे पढ़कर बरबस 'गाय मारकर जूता दान' जैसी कहावत याद आ जाती है।

इस पुस्तक का दूसरा निबन्ध ''माओवाद की त्रासदी'' (The tragdy of Maoism) नाम से है जिसे माकपा के सैंन्ट्रल सेक्रेटेरियट के सदस्य निलोत्पल बसु ने लिखा है। इस लेख का शुभारंभ केन्द्र सरकार के माओवादियों को ''देश की आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़े खतरे'' की सनसनी पूर्ण व्याख्या से होता है। बसु साहब गृह मंत्रालय के हवाले से बताते हैं कि **2004** से **2008** के बीच नक्सली हिंसा की **7ए806** घटनाएं हुई और इसमें **3ए338** लोग मारे गये। **2009** में **2ए558** घटनाएं हुई और उसमें **908** लोग मारे गये। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सुर में सुर मिलाने के बाद बसु साहब मार्क्स के प्रसिद्व लेख 'लुई बोना पार्त की अठारहवीं ब्रूमेर' के वाक्यों का हवाला देकर अपने लेख में इस्तेमाल किये गये शब्द 'त्रासदी' को सार्थकता प्रदान करते हैं। बाकी मामलों में वे ग्रेवाल साहब व सम्पादक की पूर्व मे कही गयी बातों व आरोपों को ही दुहराते हैं परन्तु इस लेख में सबसे मजेदार या नयी बात यह है कि इसमें माओ के योगदान की चर्चा की गयी है और बताया गया है कि ''माओवाद क्या है?''

बसु साहब माओ के योगदान को समझाने के लिए जिस व्यक्ति के पास ले जाते हैं वह और कोई नहीं बल्कि देंग श्याओ पिंग है। देंग श्याओं पिंग से माओं की प्रशंसा करवाने के बाद वे इन्हीं के मुखारबिंदु से यह भी सुनवाते है कि 'माओ वाद क्या है'। आइये पहले बसु साहब की बातें माओ के योगदान के बारे में सुनें जो उन्होंने देंग श्याओ पिंग के वचनों को रटकर प्रस्तुत की हैं,

> ''पूरी दुनिया के क्रांतिकारियों के लिए जो विभिन्न समाजों की विशिष्ट परिस्थितियों में मार्क्सवाद–लेनिनवाद का प्रयोग करने की कोशिश कर रहे हैं, वे माओ त्से तुंग का बीसवीं सदी के महानतम क्रांतिकारियों में से एक के रूप में सदा सम्मान करेंगे। डेंग श्याओं पिंग जिन्हें भारतीय माओवादी चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के प्रवर्तक (protagonist) के रूप में मानते हैं, के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीसी) ने श्रद्वापूर्वक (reverently) माओ को चीन की महान क्रांति का मुख्य निर्माता सांस्कृतिक क्रांति के दौरान उनके द्वारा की गई गलतियों के साथ उनके द्वारा किये गये समग्र योगदान के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाने के बावजूद बताया था। लेकिन माओवादियों के लिए माओ आलोचना से परे हैं।'' (पेज.**56**,पैरा–**3** अनुवाद हमारा)

तो इस तरह बसु अथवा उनकी पार्टी के लिए माओ का योगदान मात्र यह है कि उन्होंने मार्क्सवाद–लेनिनवाद को चीन की विशिष्ट परिस्थितियों में लागू किया और **1949** में चीन की क्रांति को सम्पन्न करने में योगदान दिया। नवजनवादी क्रांति **(1949)** के बाद माओ ने समाजवाद के निर्माण, सर्वहारा तानाशाही को बनाए रखने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना को रोकने के लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति की जो अवधारणा प्रस्तुत की वह सब बेकार है। माओ ने मार्क्सवाद–लेनिनवाद की प्रत्येक शाखा–उपशाखा में जो विकास व योगदान दिया वह उनकी नजर में माओ के द्वारा की गयी भूलें व गलतियां हैं। यह बिलकुल वही दृष्टिकोण है जो चीन की कम्युनिस्ट पार्टी व सरकार माओ की मृत्यु के बाद, पूंजीवाद की फुनर्स्थापना के बाद से प्रचारित करती रही है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) को खुलेआम घोषणा करनी चाहिए कि उनके महान शिक्षक मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ नहीं बल्कि देंग श्याओ पिंग, जियांग जेमिन व हू जिंताओ हैं। इस तरह वे जिस रास्ते पर चल रहे हैं उनके रहनुमाओं के प्रति सच्चा न्याय भी कर पायेंगे।

' ''माओवाद'' क्या है' नामक उपशीर्षक में नीलोत्पल बसु बताते हैं,

> ''चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की चीन की क्रांति के पूर्व के तरीकों को माओवाद के नाम पर पूरा का पूरा उधार लेना माओ विचारधारा की प्रकृति **(grain)** के पूर्णरूप के खिलाफ है। वास्तव में, 'माओवाद' की धारणा बहुत गलत ढंग से प्रस्तुत की गयी है। इसे स्वयं चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने स्पष्ट किया है : 'माओ त्से तुंघ विचारधारा मार्क्सवाद–लेनिनवाद के सार्वभौमिक सिद्वान्तों को चीन की क्रांति के ***ठोस व्यवहार*** से एकीकृत करने का नतीजा है'।'' (पेज–**61ए** पैरा.**1ए** अनुवाद हमारा, जोर मूल में)

अब यह जानना दिलचस्प होगा कि यह परिभाषा कहां से ली गई है। यह परिभाषा नीलोत्पल बसु ने देंग श्याओ पिंग द्वारा माओ के मूल्यांकन से ली है। परिभाषा का स्रोत इस प्रकार है :

'कामरेड माओ त्से तुंग' की ऐतिहासिक भूमिका और माओ विचारधारा ('Comrade Mao Zedong's Historical Role and Mao Zedong thought' : Resolution on Certain Questions in the history of our Party since the Foundation of the Eleventh Central Committee of the Communist Party of China on June 27,1981.) जाहिर है यह परिभाषा माओ के योगदान व विचारों को चीन की नवजनवादी क्रांति के दौर तक सीमित कर देती है। चीन के पूंजीपति वर्ग के हित जहां तक एक हद तक सधते थे वहां तक माओ सही हैं और उसके बाद जहां माओ चीन में समाजवाद के निर्माण, समाजवादी क्रांति को जारी रखने व पूंजीवाद की पुनर्स्थापना रोकने के लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति का आह्वान करने के लिए विचारों व कार्यों को प्रस्तुत करते हैं वहां से वह गलत हैं। पूंजीवादी पथगामियों के लिए जैसे ही माओ निशाना साधते हैं वैसे ही वे गलत हो जाते हैं। माकपा को यह बात माओ के जीवनकाल में ही बहुत अच्छे ढंग से समझ में आ गयी थी इसलिए उसने कभी भारत के 'माओवादी', नक्सलवादियों की तरह खुलकर माओ का पक्ष नहीं लिया। सांस्कृतिक क्रांति का समर्थन नहीं किया। माकपा का नवसंशोधनवाद **1964** में ऐसे ही शुरू हुआ था। नीलोत्पल बसु को शायद याद हो। पता हो।

नीलोत्पल बसु का निबन्ध नेपाल के माओवादियों की प्रशंसा और उनसे भारत के माओवादियों को सीखने की सलाह के बीच बाकी वही बातें दुहराता है जो उनके पहले ग्रेवाल व बोस साहब ने कह दी है।

इस पुस्तक का तीसरा निबन्ध 'माओवाद का प्रतिलोम' (the antinomies of Maoism') नाम से विजय प्रसाद ने लिखा है। अमेरिका में बसे ये प्रोफेसर साहब कई किताबों के लेखक होने के साथ माकपा से जुड़े प्रकाशनों के नियमित लेखक हैं।

विजय प्रसाद लैटिन अमेरिका के देशों विशेषकर वेनेजुएला, ब्राजील, क्यूबा के 'सकारात्मक' उदाहरणों व पेरू, कोलम्बिया व एशियाई देश फिलीपीन्स के 'नकारात्मक' उदाहरण के द्वारा स्थापित करते है कि अब सशस्त्र संघर्षों की समाजवाद के निर्माण में कोई भूमिका नहीं है। वे अपने लेख में निष्कर्ष देने वाले उपशीर्षक 'बंदूक नहीं जन' (Mass not guns) में यही स्थापित करते हैं लैटिन अमेरिका में जिस तरह से लूला, शावेज ने सशस्त्र संघर्ष को किनारे लगाते हुए 'जन राजनीति' के आधार पर समाजवाद के निर्माण की राह खोली है वह अनुकरणीय है। इसके लिए वे माकपा के नेता ई एम एस नम्बूदरीपाद के उन विचारों को भी याद करते हैं जो उन्होंने लैटिन अमेरिका के इन प्रयोंगों के काफी पहले व्यक्त किये थे जिस पर एक तरह से आज का लैटिन अमेरिकी समाज चल रहा है। उनके अनुसार **2002** में वेनेजुएला के लोगों ने एक तरह से ईएमएस नम्बूदरीपाद के विचारों को ही अपनाया था।

विजय प्रसाद का निबन्ध मार्क्सवाद–लेनिनवाद की मूल प्रस्थापनाओं को झुठलाने के लिए सारे प्रयास खुलेआम करने के स्थान पर आड़ में करता है। यहां पाठ पढ़ाया जाता है कि समाजवाद लोकतंत्र के रास्ते आ सकता है और वेनेजुएला, ब्राजील में आ ही चुका है। कुछ इस आधार पर अपनी बात पुष्ट की जाती है कि देखो पेरू, फिलीपीन्स में 'माओवाद' या कोलम्बिया में गुरिल्ला लड़ाई का हश्र क्या हुआ।

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में 'विचारधारात्मक बहस का सार संकलन' (Ideological Debate Summed UP (Excerpts) Polit Bureau Communist Party of India (Marxist) June,**1968**) दिया गया है। इसके बारे में दो ही बातें कही जा सकती हैं कि यह एक तो माकपा के भारतीय पूंजीवाद में सटने व सिमटने का दस्तावेज है और दूसरा यह एक पार्टी के सुधारवाद, अर्थवाद, संसदवाद के दलदल में धंसते जाने की राह खोलता या उसकी योजना प्रस्तुत करता है।

कुल मिलाकर, माओवाद की 'वाम' की ओर से की गयी यह आलोचना उस मजबूरी का परिणाम है जो पिछले कुछ वर्षों में, माओवादी/नक्सलवादियों द्वारा माकपा के सामने प्रस्तुत कर दी गयी है। न केवल उसका 'जनाधार' हाल के वर्षों में तेजी से खिसका है बल्कि ढेरों मार्क्सवादी बुद्विजीवियों और जनपक्षधर ईमानदार लोगों को यह सोचने पर मजबूर किया है कि वे क्यों कांग्रेस, भाजपा, तृणमूल कांग्रेस जैसी बुर्जुआ पार्टियों के विरोध के नाम पर माकपा या वाम मोर्चे का समर्थन करें। फिलवक्त प्रकाश करात की हर योजना जैसे धूल चाट रही है वैसे ही उनके निर्देश में लिखी गयी इस पुस्तक का भी होना है। 'वैचारिक मूल्य' तो इसका शायद ही कोई कुछ आंके परन्तु हो सकता है कोई कबाड़ी लेफ्रट वर्ड के गोदाम से थोक में इसे खरीद कर कुछ मूल्य भले ही इसे प्रदान कर दे। और फिर शायद प्रकाश करात इकन्नी–दुअन्नी गिनते हए अपने लेखकगणों के साथ अपने मुख्यालय में एक हसीन शाम गुजारें।